इकाई 17 संवैधानिक सुधार 1892-1920

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

इस इकाई का उद्देश्य, आपको भारत में सन् 1892 और 1919 के मध्य वैधानिक संस्थाओं के विकास के मुख्य चरणों से अवगत कराना है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- वैधानिक संस्थाओं के आकार और कार्य में, इस काल में हुई वृद्धि के विषय में जान सकेंगे,
- उन कारणों को जान सकेंगे जिन्होंने अंग्रेज़ों को इन सुधारों को लागू करने के लिए प्रेरित किया, तथा
- स्वतन्त्रता संग्राम और इन संस्थाओं के विकास के मध्य सम्बन्ध को समझ सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

अंग्रेज़ों ने कुछ संवैधानिक सुधार किए थे। इस इकाई में उन कारणों पर विचार किया जा रहा है जिनकी वजह से सन् 1892 का इण्डियन काउंसिल्स अधिनियम पारित हुआ। यहाँ इस अधिनियम की मुख्य धाराएँ, इसकी उपलब्धियां तथा इनकी कमियों पर विचार किया गया है। साथ ही साथ इसमें मोर्ले-मिन्टो तथा मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की पृष्ठभूमि का अवलोकन किया गया है और इन सुधारों द्वारा सरकार के विभिन्न अंगों में किये जाने वाले

परिवर्तनों पर भी प्रकाश डाला गया है। अन्त में सुधारों की उपलब्धियों तथा कमियों को दर्शाया गया है। ताकि आप इनका वस्तुनिष्ठ विश्लेषण कर सकें।

17.2 पृष्ठभूमि

सन् 1833 के चार्टर अधिनियम में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में चौथे सदस्य को विधि सचिव के रूप में शामिल किया गया। वह केवल वैधानिक मामलों में गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् में वोट दे सकने का तथा बैठ सकने का अधिकारी था। इस प्रकार पहली बार केंद्रीय सरकार के वैधानिक तथा प्रशासनिक कार्यों में अन्तर किया गया। इस अधिनियम के द्वारा एक और परिवर्तन यह था कि प्रेसीडेन्सी (कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास प्रेसीडेंसी) सरकारों, को स्वतन्त्र वैधानिक शक्तियों से वंचित कर दिया गया।

बीस वर्ष बाद सन् 1853 में एक और चार्टर अधिनियम पारित किया गया जिसके अंतर्गत गवर्नर जनरल की काउंसिल में विधि सचिव को पूर्ण सदस्य के अधिकार प्रदान कर दिए गए। इसके साथ ही, गवर्नर जनरल की काउंसिल की कार्यकारी तथा वैधानिक शक्तियों के बीच का अन्तर बढ़ा दिया गया, क्योंकि वैधानिक कार्यों के लिए इस काउंसिल में छह अतिरिक्त सदस्यों की नियुक्ति की गई। ये सभी वेतनभोगी सरकारी अधिकारी थे जिनमें से चार, तीन प्रेसीडेंसियों तथा नॉर्थ वेस्टर्न प्रॉविन्सेज़ (मोटे तौर पर आज के उत्तर भारत का पश्चिमी अर्धांश) का प्रतिनिधित्व करते थे और दो जज थे अधिनियम में ऐसे सदस्यों को लेजिसलेटिव काउंसलर (विधान पार्षद्) कहा गया। गैर सरकारी, यूरोपीय या भारतीय सदस्यों को शामिल किए जाने का प्रस्ताव स्वीकार नहीं किया गया।

सन् 1854 में विधान परिषद् ने कार्य संचालन के लिए एक विस्तृत प्रणाली प्रस्तुत की। कानून बनाने के साथ-साथ तमाम शिकायतों की जाँच पड़ताल करने का काम भी इसे सौंप दिया गया। इसके अलावा, प्रांतीय सरकारों ने विधि निर्माण प्रक्रिया के केन्द्रीकरण का विरोध किया।

हालांकि सन् 1857 के विद्रोह ने, अंग्रेज़ी सरकार को इस व्यवस्था में और भी परिवर्तन करने के लिए एक तात्कालिक कारण प्रदान कर दिया। यह अनुभव किया गया कि विद्रोह का एक मुख्य कारण शासक वर्ग और भारतीयों के मध्य सम्पर्क और तालमेल की कमी थी। सन् 1861 में इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट के रूप में एक ऐक्ट पारित किया गया जिसमें इस विचारधारा का प्रतिबिंब था। विधि निर्माण के उद्देश्य से गवर्नर जनरल की काउंसिल में अतिरिक्त सदस्यों की वृद्धि की गई जिनकी संख्या कम-से-कम छह और अधिक से अधिक बारह होनी थी और जिन्हें गवर्नर जनरल द्वारा दो वर्ष के कार्यकाल के लिए मनोनीत किया जाना था। एक महत्वपूर्ण नया प्रयोग यह किया गया कि अतिरिक्त सदस्यों में से कम-से-कम आधे गैर सरकारी होने थे (अर्थात् ऐसे लोग जो कि ब्रिटिश शासन की नागरिक सेवा या सैनिक सेवा में कार्यरत नहीं थे)। इस व्यवस्था के अन्तर्गत आमतौर पर तीन भारतीयों को मनोनीत किया जाता था। साथ ही साथ वैधानिक क्षेत्र में काउंसिल का काम केवल विधि निर्माण तक सीमित था। इस ऐक्ट ने बंबई और मद्रास की सरकारों की विधि निर्माण की शक्तियों को पुनर्स्थापित किया तथा अन्य प्रान्तों में भी विधान परिषदों की स्थापना की व्यवस्था की। बंगाल में सन् 1862, पंजाब में सन् 1886 तथा नॉर्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़ में सन् 1887 में विधान परिषदों की स्थापना की गई।

पहले बीस सालों में गैर सरकारी सदस्यों के मनोनयन की शक्ति को सरकारी अनुग्रह के एक साधन के रूप में प्रयुक्त किया गया। मनोनीत किए जाने वाले गैर सरकारी सदस्य, राजाओं, उनके दीवानों और बड़े ज़मींदारों में से ही होते थे और उनमें भी सिर्फ़ वे लोग मनोनीत किए गए जिन्होंने सन् 1857-58 के विद्रोह में अंग्रेज़ों की मदद की थी। फिर भी गैर सरकारी सदस्यों को मनोनीत किए जाने का निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण था। यह भारतीय जनमत की महत्ता की मौन स्वीकृति थी और इस बात की भी कि अंग्रेज़ अधिकारी भारतीयों की आकांक्षाओं के सबसे अच्छे व्याख्याकार नहीं हो सकते थे। यह भी मालूम हो गया था कि एक तानाशाह औपनिवेशिक सरकार भी नितांत एकाकी होकर कार्य नहीं कर सकती थी।

17.3 सन् 1892 का इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट

अब हम उन कारणों पर विचार करेंगे जिन्होंने ब्रिटिश सरकार को 1892 के इंडियन काउंसिल ऐक्ट पारित करने के लिए प्रेरित किया। इसके अतिरिक्त इस ऐक्ट की मुख्य विशेषताओं, कमियों तथा उपलब्धियों की भी विवेचना की जाएगी।

17.3.1 संवैधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता

सरकार के दृष्टिकोण से सन् 1861 के ऐक्ट ने संतोषजनक ढंग से कार्य किया था। परन्तु परवर्तीकाल में भारत में राष्ट्रीय चेतना का अद्भुत विकास हुआ। शीघ्र ही इस भावना का विकास हुआ कि देशवासियों के बहुत से हित, आकांक्षाएँ और तकदीर एक समान हैं। खण्ड एक की इकाई 3 में आप इस भावना के उत्थान और विकास के कारणों का अध्ययन कर चुके हैं। आप यह भी जानते हैं कि अपने पहले ही अधिवेशन में कांग्रेस ने केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों में चुने हुए सदस्यों के सम्मिलन और उनके कार्यक्षेत्र में वृद्धि की माँग की थी। आगामी वर्षों में इन माँगों को दोहराया जाता रहा।

जब भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई तब लॉर्ड डफ़रिन भारत के गवर्नर जनरल थे। उनके कार्यकाल में (1884-1888) भारत सरकार ने गृह सरकार से केंद्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों के आकार तथा उसके कार्यक्षेत्र में वृद्धि किए जाने की ज़ोरदार सिफ़ारिश की। स्वाभाविक रूप से यह सवाल उठता है कि, क्यों एक तानाशाह या एक निरंकुश सरकार विधान परिषदों में ज्यादा भारतीयों के सम्मिलन तथा उनके कार्यक्षेत्र में वृद्धि के विषय में विचार कर रही है? यह सवाल तब और भी महत्वपूर्ण हो जाता है जब यह मालूम होता है कि इस बात के लिए न तो जनता की ओर से कोई दबाव पड़ रहा था और न ही ब्रिटिश राज का तख्ता पलटने के लिए कोई क्रांतिकारी आंदोलन ही चल रहा था। सरकार साफ़ तौर पर यह मानती थी कि शिक्षित भारतीय समुदाय भारतीय जनमत का प्रतिनिधित्व नहीं करता है और वह उनकी माँगों को भी शक की नज़र से देखती थी।

जैसा कि आप पढ़ चुके हैं कि यद्यपि प्रारंभ में सरकार ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को अंशतः मान्यता दी थी पर जल्दी ही इसने अपनी संरक्षण की नीति वापस ले ली थी। शायद सरकार ने अनुभव किया था कि राष्ट्रीयता की भावना का विकास ब्रिटिश राज्य के हित में नहीं होगा। इन राष्ट्रवादी नेताओं की माँगें मुख्य रूप से इस बात पर आधारित थीं कि, भारत का शासन भारतीयों के कल्याण को दृष्टि में रखकर ही किया जाना चाहिए। दूसरी तरफ़ सरकार का प्राथमिक उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों का संरक्षण तथा उनका विकास करना था। ऐसी परिस्थिति में अंग्रेज़ों के लिए यह जरूरी था कि वे भारत में अपने समर्थन का आधार विस्तृत करें और ऐसा वे उन भारतीयों की आकांक्षाओं को पूरा करके कर सकते थे जो कि अपनी माँगों को एक संकुचित संवैधानिक ढाँचे के भीतर ही रखने को तैयार थे। संवैधानिक संरचना में परिवर्तन करके सरकार की सर्वग्राह्य तानाशाही को प्रतिकूल रूप से प्रभावित किए बिना ही, शिक्षित भारतीयों के असंतोष को दूर किया जा सकता था। इसी उद्देश्य से सन् 1892 में एक नया इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट पारित किया गया।

17.3.2 अधिनियम की मुख्य धाराएँ

सन् 1892 का इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट एक संशोधनात्मक ऐक्ट था। परिणामस्वरूप आधारभूत संवैधानिक धाराएँ वही रहीं जो सन् 1861 के ऐक्ट में थीं। मुख्यतः दो प्रकार के परिवर्तन किए गए:

i) वैधानिक संस्थाओं के संगठन में परिवर्तन
ii) कार्यक्षेत्र में वृद्धि

केंद्रीय कार्यकारिणी परिषद् के अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ाकर न्यूनतम दस और अधिकतम सोलह कर दी गई और 1861 के ऐक्ट की ही भाँति इसमें कम-से-कम आधे सदस्य गैर सरकारी होने थे। इस बात की भी आशा थी कि चुनाव की प्रक्रिया भी प्रारंभ की

जाएगी। लेकिन अन्ततः गवनर जनरल को इस बात के लिए अधिकृत कर दिया गया था कि वह विभिन्न भारतीय संस्थाओं को अपने-अपने प्रतिनिधि चुनने या भेजने का निमंत्रण दे और उनके मनोनयन के लिए नियम बनाए।

अन्तिम रूप से पारित नियमों के अधीन केंद्रीय विधान परिषद् में नौ अवकाश प्राप्त सरकारी कर्मचारी सदस्यों (गवर्नर जनरल, एक्ज़ीक्यूटिव काउंसिल के छह सदस्य, सेनाध्यक्ष तथा उस प्रांत का प्रमुख जहाँ परिषद् की बैठक हो जैसे बंगाल या बिहार का लेफ्टिनेंट गवर्नर) के साथ-साथ छह अतिरिक्त सरकारी सदस्य और दस अतिरिक्त गैरसरकारी सदस्य थे। इन अतिरिक्त गैर सरकारी सदस्यों को बंगाल, बंबई, मद्रास तथा नॉर्थ वेस्टर्न प्राविन्सेज़ की विधान परिषदों के सदस्यों में से नामजद किया जाता था।

जब पंजाब और बर्मा में विधान परिषदों का गठन हो गया तब एक-एक सदस्य को वहाँ से भी केंद्रीय विधान परिषद् में शामिल किया गया। एक सदस्य की नियुक्ति कलकत्ता चैम्बर ऑफ कॉमर्स की सिफ़ारिश पर की गई। व्यवहार में ये संस्थाएँ अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनका नाम अग्रसारित कर देती थीं और ये नाम सदैव ही सरकार द्वारा स्वीकार कर लिए जाते थे। इस प्रकार वास्तव में ये प्रतिनिधि इन संस्थाओं द्वारा ही चुने जाते थे। यद्यपि इस चयन सिद्धान्त को बहुत सावधानी के साथ लागू किया गया था। इस प्रकार की प्रक्रिया अपनाने के पीछे जो उद्देश्य था वह यह था कि विधान परिषदों में सदस्यों का सम्मिलन, विशिष्ट संस्थाओं के प्रतिनिधियों के रूप में नहीं बल्कि गवर्नर जनरल द्वारा नामजद व्यक्तियों के रूप में देखा जाये। शेष नामजद गैर सरकारी सदस्य थे। सरकारी नामजद अधिकारी तथा अवकाश प्राप्त सरकारी कर्मचारी सदस्यों की संख्या मिलकर विधान परिषद् में सरकारी सदस्यों का बहुमत बनाती थी।

इसी प्रकार के परिवर्तन प्रांतीय विधान परिषदों के संगठन में भी किए गए। कुल मिलाकर सभी प्रांतों की विधान परिषदों में सरकारी सदस्यों का बहुमत बनाए रखा गया। जहाँ तक कार्यों का सम्बन्ध है, वैधानिक प्रस्तावों के अतिरिक्त, वार्षिक बजट पर भी सदस्यगण बहस कर सकते थे। हालांकि सरकार द्वारा प्रस्तुत बजट एक अपरिवर्तनीय दस्तावेज़ के रूप में ही प्रस्तुत किया जाता था। सदस्यगण केवल अपनी टिप्पणी दे सकते थे जिसका प्रभाव आने वाले वर्षों के बजट पर पड़ सकता था परन्तु तत्कालीन बजट पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता था। प्रान्तों में बहस, राजस्व और व्यय के उन्हीं अनुभागों तक सीमित रखी गई, जो कि प्रांतीय सरकारों के नियंत्रण में थे आंतरिक विषयों पर भी प्रश्न करने का अधिकार सदस्यों को था परन्तु पूरक प्रश्न करने की अनुमति उन्हें नहीं दी गई। इन नियंत्रणों के बावजूद यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग था क्योंकि उस समय तक ब्रिटिश हाउस ऑफ कामंस में भी "प्रश्नकाल" का प्रावधान साकार रूप नहीं ले सका था।

सन् 1892 और सन् 1893 के भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशनों में इस ऐक्ट की आलोचना की गई क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष चुनाव की प्रणाली लागू नहीं की गई थी। लेकिन ये अधिनियम इतने उदार अवश्य थे कि गोपालकृष्ण गोखले, लालमोहन घोष, डब्ल्यू. सी. बनर्जी, सरेन्द्र नाथ बनर्जी और फीरोज़शाह मेहता जैसे अनेक राष्ट्रवादी नेतागण विधान परिषदों में प्रविष्ट हो सकें। गैर सरकारी सदस्यगणों ने बहस करने की कला और विधायक के रूप में योग्यता का भलीभांति प्रदर्शन किया और उन्होंने भारतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत कर सकने के हर मौके का लाभ उठाया। कुल मिलाकर ऐक्ट की व्यवस्थाओं ने राष्ट्रवादी नेताओं की आकांक्षाओं को संतुष्ट किया क्योंकि सन् 1894 से 1900 तक के कांग्रेस कार्यक्रम में विधान परिषदों में सुधार किए जाने की माँग को अधिक महत्व दिया गया। हालांकि संतोष की यह भावना अधिक दिन नहीं रही क्योंकि इसी अवधि में विरोध की राजनीति उभर कर आई और सन् 1904 तक एक बार फिर से समवेत स्वरों में कांग्रेस और अधिक वैधानिक सुधारों की माँग करने लगीं थी।

बोध प्रश्न 1

1 निम्न कथनों में कौन-सा तथ्य सही ($\surd$) या गलत ($\times$) है।

i) सरकार ने इन संवैधानिक सुधारों को इसलिए लागू किया क्योंकि वह भारतीयों को प्रशासनिक कला में प्रशिक्षण देना चाहती थी।

ii) सरकार भारतीयों में सामाजिक समर्थन के आधार को विस्तृत करके अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाना चाहती थी।

iii) गैर सरकारी सदस्यों की भर्ती सीधे चुनाव के द्वारा होनी थी।

2 सन् 1892 के इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट पारित किए जाने की पृष्ठभूमि बताइए। अपना उत्तर लगभग पाँच पंक्तियों में दीजिए।

....

....

....

....

....

3 सन् 1892 के ऐक्ट की मुख्य धाराएँ क्या थी? लगभग 100 शब्दों में अपना उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

17.4 मोर्ले-मिन्टो सुधार

1909 के मोर्ले-मिन्टो सुधार का पारित होना 1892 के इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट (Indian Councils Act) के उपरांत की राजनैतिक हलचल तथा तीव्र गतिविधियों के दौर की पृष्ठभूमि में देखी जानी चाहिये।

17.4.1 संवैधानिक परिवर्तनों की आवश्यकता

कांग्रेस के बाहर (सन् 1892 के बाद के पंद्रह सालों में) कांग्रेस के लक्ष्यों और प्रणाली के प्रति असंतोष की भावना पनप रही थी। सन् 1885 में हाईस्कूल (मैट्रिक) में उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों की संख्या 1286 थी जो सन् 1906 में बढ़कर 8211 हो गई। यद्यपि आज के मापदण्ड से यह संख्या हास्यास्पद सीमा तक कम मालूम पड़ती है परंतु मात्रा की दृष्टि में इसमें सात गुनी वृद्धि हुई थी। यही प्रवृति समाचार पत्रों और पत्रिकाओं के प्रकाशन और बिक्री के संबंध में देखी गयी । इससे यह संकेत मिलता है कि उन भारतीयों की संख्या में, जो कि नागरिक के रूप में अपने अधिकारों के प्रति सजग हो सकते थे और सरकार के कर्तव्यों के प्रति भी जागरूक हो सकते थे, साथ ही साथ लोगों की संख्या में, जो कि विदेशी शासन की हानियों को समझने लगे थे, बहुत अधिक वृद्धि हुई थी। इन्हीं वर्षों में उग्रवाद तथा क्रांतिकारी विचारधारा का भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के अंतर्गत उदय हुआ था, जिनके लिए अन्य बातों के अलावा कर्जन की नीतियाँ काफी हद तक जिम्मेदार थीं।

सन् 1898 से सन् 1905 तक के काल में गवर्नर जनरल के रूप में कार्य करने वाले लॉर्ड कर्जन में स्वाभिमान कूट-कूट कर भरा हुआ था, जो कि ग्रेट ब्रिटेन की सुदृढ़ अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को दर्शाता था। उसकी केंद्रीयकरण की नीति, शिक्षित भारतीयों की आकांक्षाओं तथा

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रति उसकी प्रत्यक्ष अवमानना और सबसे ज्यादा उसका बंगाल विभाजन का निर्णय ऐसी बातें थीं जिनसे जनता का विरोध उभर कर सामने आ गया था। दिसंबर 1903 से, अर्थात् जब से विभाजन की योजना घोषित की गई थी, तब से बंगाल के निवासियों ने अपने असंतोष को खुले आम और स्पष्ट रूप से व्यक्त करना प्रारम्भ कर दिया था। बहुत सी वैकल्पिक योजनाएँ भी प्रस्तुत की गईं। फिर भी विभाजन की योजना कार्यान्वित की गई। यह अलोकप्रिय निर्णय शासक वर्ग के द्वारा शासित वर्ग की भावनाओं की पूर्ण अवहेलना का प्रतीक बन गया। कांग्रेस के नेता अपने संगठन के लक्ष्य पर पुनर्विचार करने लगे, और खासकर ब्रिटिश सरकार पर इस निर्णय को बदलने के लिए दबाव डालने के लिए कोई उपाय सोचने लगे। विभाजन के निर्णय के फलस्वरूप, ब्रिटिश शासन के खिलाफ उभरा कटु विरोध कलकत्ता तथा अन्य स्थानों में हुए विरोध प्रदर्शनों में व्यक्त हुआ और साथ ही साथ स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा के नारे भी बुलंद किए गए।

कुछ नरम दलीय नेताओं ने भी, खासकर बंगाल में, उग्रवादियों के बहिष्कार और स्वदेशी कार्यक्रम का खुले आम समर्थन किया। लेकिन शीघ्र ही वे अपने पुराने ढर्रे, "प्रार्थना और याचिका" पर वापस आ गये। वे चाहते थे कि सरकार कुछ सुधार करके अपनी उदारता का परिचय दे। सन् 1905 के बनारस में हुए कांग्रेस अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में गोपाल कृष्ण गोखले ने कहा था, "कांग्रेस का लक्ष्य है कि भारत का शासन खुद भारतीयों के हित में किया जाये।" उनकी तात्कालिक माँगें थीं कि विधान परिषदों में सुधार किए जाएँ और कम-से-कम तीन भारतीयों को भारत सचिव की काउंसिल में नियुक्त किया जाये। नरम दल के नेता तब अधिक आशावान हो गए जब 1905 के अन्तिम दिनों में ब्रिटेन में सत्ता, लिबरल पार्टी के हाथ में आ गई और अपने उदार विचारों के लिए विख्यात मोर्ले भारत सचिव बनाए गए। कुछ समय पूर्व ही कंजरवेटिव लॉर्ड मिन्टो ने लॉर्ड कर्ज़न के उत्तराधिकारी के रूप में गवर्नर जनरल का कार्यभार संभाला था। मोर्ले और मिन्टो के नाम इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट, 1909 में किए गए परिवर्तनों के साथ जोड़ दिए गए, और यह ऐक्ट "मोर्ले-मिन्टो सुधार" के रूप में विख्यात हुआ।

मोर्ले तथा मिन्टो दोनों की पृष्ठभूमि, प्रतिष्ठा और अनुभव में बड़ा अन्तर था। परन्तु जहाँ तक भारत के प्रति नीति का सवाल है दोनों का दृष्टिकोण एक समान था। दोनों यह मानते थे कि बंगाल विभाजन एक भारी भूल थी और उसका परिणाम सरकार के प्रति विरोध की भावना का उग्र होना था। उन्हें यह भी भय था कि विरोध की भावना मुसलमानों में भी व्याप्त हो रही है। उनकी ये भावनाएं स्पष्ट रूप से सरकारी और गैर सरकारी पत्राचार में व्यक्त हुई। उदाहरण के लिए एक सार्वजनिक संदेश में भारत सरकार ने लिखा:

> "ऐसा लगता है कि अंग्रेज़ी बोलने वाले भारतीय समुदाय पर हमारी पकड़ धीरे-धीरे कमज़ोर होती जा रही है और इस बात के संकेत हैं कि इस समुदाय के एक बड़े हिस्से में दबी उनकी शत्रुता धीरे-धीरे समाज के निम्न वर्ग तक भी पहुँच रही है, जो कि इसकी वजह तो नहीं जानता है पर यह ज़रूर देखता है कि अंग्रेज़ अधिकारी का जो दबदबा पहले था वह अब नहीं है। अत: सरकारी नीति में परिवर्तन किए जाने की निहायत ज़रूरत है।"

नये बदलाव से उनका मतलब वैधानिक संस्थाओं के संगठन और कार्य में परिवर्तन से था। इससे वे नरम दल को ब्रिटिश साम्राज्य का पक्षधर बना सकते थे क्योंकि उनकी ख़ास माँग ही संवैधानिक सुधारों की थी। हालाँकि अंग्रेज़ शासक यह जानते थे कि नरम दल की बुनियादी माँग, कि भारत का शासन भारतीयों के हित के लिए ही किया जाना चाहिए, साम्राज्यवादी ढाँचे में सही तौर पर बैठ नहीं सकती थी। राष्ट्रीय चेतना के लिए कार्य करना और साथ ही साथ ब्रिटिश शासन की वफ़ादारी का इज़हार, दोनों का एक साथ निभ पाना असंभव था। अत: इस वर्ग के लोगों को अपनी ओर मिलाने के प्रयास के अतिरिक्त अंग्रेज़ों ने भारत में अपने शासन के समर्थन के लिए नए सहारों की तलाश की। भारत पहुँचने के कुछ समय बाद ही लॉर्ड मिन्टो ने लिखा: "इधर कुछ दिनों से मैं कांग्रेस के लक्ष्यों के संभावित प्रति संतुलन के विषय में, काफी सोच रहा हूँ।" पहले सरकार का विचार गण्यमानों की एक अलग परिषद् बनाने का था जिसमें अंग्रेज़ों के प्रति निष्ठावान भारतीय रियासतों के शासक, ज़मींदार आदि शामिल किए जा सकते थे लेकिन बाद में उन्होंने ज़मींदारों को साम्प्रदायिक विधान परिषद् में ही प्रतिनिधित्व देने का [illegible] लिया।

इसी बीच (जैसा कि आप खंड सात की इकाई-36 में देखेंगे) अक्टूबर 1906 में मुसलमानों के नेताओं का एक शिष्टमंडल वाइसरॉय से शिमला में मिला। उन्होंने इस बात की माँग की कि किसी भी प्रकार का प्रतिनिधित्व दिए जाते समय मुसलमानों को उनकी संख्या के आधार पर नहीं बल्कि उनके राजनैतिक महत्व के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए। अंग्रेजों ने इन माँगों में काँग्रेस का आशाजनक विकल्प देख लिया था। अब वे काँग्रेसी नेताओं की बढ़ती हुई माँगों के विरुद्ध मुसलमानों के इस वर्ग को अपना संरक्षण देकर प्रति संतुलन उत्पन्न कर सकते थे। जैसा कि हम देखेंगे कि मुसलमानों को महत्व भी दिया गया और उन्हें अलग से प्रतिनिधित्व भी मिला। राष्ट्रवादी नेताओं ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यह शिष्टमण्डल अंग्रेज़ों के इशारे पर ही काम कर रहा था। मोहम्मद अली ने इसे अंग्रेज़ों के निर्देशन में की गई प्रस्तुति कहा। मुस्लिम लीग के प्रशंसकों ने इस आरोप को निराधार बताया और स्पष्ट किया कि उन्नीसवीं शताब्दी के नवें दशक में ही सर सैयद अहमद और उनके अनुयायी मुस्लिम हितों का प्रतिनिधित्व करने के लिए मुसलमानों के मनोनयन की माँग करते आ रहे हैं, और अब जबकि चुनाव प्रणाली के लागू किए जाने की संभावनाएँ हैं, तब यह स्वाभाविक ही है कि मुसलमानों द्वारा अधिक संख्या में सीटों व पृथक निर्वाचक मण्डल की माँग की जाए। हालांकि इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि अपना शासन बनाए रखने के लिए अंग्रेज़ों ने साम्प्रदायिक पृथकत्व को बढ़ावा दिया था। यही कारण है कि, अपेक्षाकृत दुर्बल संगठन होने और दो दशको से कांग्रेस द्वारा अपनाई जा रही प्रार्थना और याचिका की पद्धति को अपनाने के बावजूद लीग को अपनी स्थापना के तुरंत बाद बड़ी सफलता मिली।

संवैधानिक सुधार किए जाने का पहला प्रस्ताव सन् 1906 की गर्मियों में किया गया और एक लंबी तथा कष्टसाध्य बहस के बाद मई, सन् 1909 में इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट पारित हुआ।

वैधानिक सुधारों के रूप में प्रतिबिंबित मेलमिलाप की इस नीति के साथ ही साथ सरकार ने उन सभी लोगों के निर्मम दमन की नीति अपनाई जो अब भी सरकार का विरोध कर रहे थे या उनकी भर्त्सना कर रहे थे। सन् 1907-1908 के दौरान प्रीवेन्शन ऑफ सेडिशस मीटिंग ऐक्ट के तहत निर्धारित क्षेत्रों में सभाओं के आयोजन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तथा न्यूज़पेपर्स ऐक्ट के तहत छापाखानों की कुर्की और इंडियन क्रिमिनल लॉ अमेन्डमेंट ऐक्ट के तहत बंगाल में समितियों पर प्रतिबंध लगाए जाने के कानून पारित किए गए।

ऐक्ट पारित होने से पहले ही, भारतीय नेताओं की एक महत्वपूर्ण माँग, बिना कोई विधिक परिवर्तन किए हुए ही मान ली गई। यह थी, भारत सचिव, गवर्नर जनरल तथा प्रांतीय गवर्नरों की परिषदों में दो-दो भारतीयों की नियुक्ति। यह कदम प्रशासनिक सक्षमता बढ़ाने के लिए नहीं था, बल्कि साफ़ तौर पर विद्यमान व्यवस्था के अन्तर्गत शिक्षित भारतीयों के लिए उन्नति का अवसर प्रदान करने के लिए उठाया गया था। इस प्रावधान के अन्तर्गत अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विभाग जैसे कानून या शिक्षा आदि भारतीयों को सौंप दिए गये थे। फिर भी यह कदम महत्वपूर्ण था क्योंकि इससे दो तथ्यों की अप्रत्यक्ष स्वीकृति का संकेत मिलता था। पहला यह कि भारतीय उच्चतम पदों पर नियुक्त किए जाने के योग्य हैं और दूसरा यह कि ब्रिटिश अधिकारियों की तुलना में भारतीय ही अपने देशवासियों की आकांक्षाओं की बेहतर व्याख्या कर सकते हैं।

सन् 1892 के इंडियन काउंसिल्स ऐक्ट की ही भांति सन् 1909 का ऐक्ट भी एक संशोधनात्मक ऐक्ट था। इंडियन काउंसिल ऐक्ट की ही भाँति इसमें भी कानून व अधिनियम बनाने के लिए गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों की परिषदों के आकार व कार्यों में परिवर्तन किए गए।

17.4.2 वैधानिक संस्थाओं के संगठन में परिवर्तन

इस ऐक्ट ने केन्द्रीय तथा प्रांतीय विधान परिषदों का विस्तार किया। केन्द्रीय विधान पारषद् में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या 60 कर दी गई जबकि प्रांतीय विधान परिषदों में इनकी संख्या 30 से 50 के बीच रखी गई। इसमें अवकाश प्राप्त सरकारी सदस्यों की संख्या शामिल नहीं है। अतिरिक्त सदस्य दो प्रकार के होते थे—सरकारी और गैर सरकारी। केंद्र में सरकारी सदस्यों (अवकाश प्राप्त सरकारी सदस्य मिलाकर) का बहुमत होता था। प्रान्तीय विधान

सभाओं में गैर सरकारी बहुमत की माँग को मान लिया गया। ऐसा यह मानकर किया गया कि गैर सरकारी सदस्य एक दूसरे के इतने विपरीत हितों और वर्गों का प्रतिनिधित्व करेंगे कि उनका एकजुट हो पाना कठिन होता। इसके अलावा यदि उनके द्वारा किसी अवांछित बिल को पारित किया भी जाता तो इस प्रकार के बिलों को आसानी से निषेधाधिकार का प्रयोग करके निरस्त किया जा सकता था।

केंद्रीय या इम्पीरियल विधान परिषद् में 37 सरकारी (9 अवकाश प्राप्त सरकारी सदस्य + 2 अतिरिक्त सरकारी सदस्य) और 32 गैर सरकारी सदस्य थे। सन् 1909 का ऐक्ट गैर सरकारी स्थानों के वितरण और पूर्ति के तरीके के कारण महत्वपूर्ण बन गया। इन 32 स्थानों में से 5 सरकार द्वारा नामजद व्यक्तियों द्वारा भरे जाने थे। शेष 27 स्थानों का वितरण निम्न प्रकार से किया गया:

1	प्रांतीय विधान परिषदों के गैर सरकारी सदस्यों में से	13
2	प्रांतों के ज़मींदारों में से	6
3	प्रान्तों के मुसलमानों में से	5
4	संयुक्त प्रांत के मुस्लिम भूमिपति और बंगाल के मुसमानों का बारी-बारी से प्रतिनिधित्व	1
5	बबई और कलकत्ता के चैम्बर्स ऑफ कामर्स से	2

इसी प्रकार के प्रावधान प्रांतीय दिधान परिषदों के गठन के लिए किए गए लेकिन उनमें उनकी विशिष्ट परिस्थितियों के अनुरूप कुछ परिवर्तन भी किए गए। मुसलमान ज़मीदारों को जो महत्व प्रदान किया गया वह किसी ठोस एवं सत्यापित लाभदायक प्रथा के अनुसार नहीं था बल्कि उससे भविष्य में होने वाले लाभ की आशा में ही ऐसा किया गया था।

इन स्थानों की पूर्ति चुनाव द्वारा की जानी थी। तेरह सामान्य स्थानों के लिए दोहरी अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली अपनायी गयी। किसी शहर या गाँव के करदाता नागरिक नगर पालिकाओं या स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के लिए प्रतिनिधि चुनते थे और ये प्रतिनिधि फिर प्रांतीय विधान परिषदों के लिए प्रतिनिधि चुनते थे। प्रांतीय विधान परिषदों के ये गैर सरकारी सदस्य फिर सर्वोच्च विधान परिषद् के लिए प्रतिनिधियों का चुनाव करते थे। इस प्रकार प्रान्तीय विधान परिषदों के लगभग 200 गैर सरकारी सदस्यों में से केंद्रीय विधान परिषद् के तेरह सामान्य स्थान भरे गए थे। यह आकार हास्यास्पद सीमा तक छोटा था और यहाँ तक कि मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में भी इसकी आलोचना की गई थी। जमींदारों और मुसलमानों के प्रतिनिधि केंद्रीय विधान परिषद् मे भी सीधे चुने जाते थे। इसने मुसलमानों और गैर मुसलमानों में किए गए भेदभाव को और भी अधिक विद्वेषपूर्ण और अन्यायपूर्ण बना दिया। जबकि मस्लिम जमींदारों, समृद्ध व्यापारियों, स्नातकों और पेशेवर लोगों को प्रान्तीय और यहाँ तक कि केन्द्रीय विधान परिषद् में मताधिकार प्रदान कर दिया गया था लेकिन गैर मस्लिम चाहे वे कितने ही समृद्ध और योग्यता प्राप्त क्यों न हों, उनको चुनाव में मताधिकार तब तक नहीं मिल सकता था जब तक कि वे नगरपालिका या जिला परिषद् के सदस्य न हों। इस भेदभाव की नीति से गैर मुस्लिमों की भावनाओं को चोट पहुँचती थी। इसके अलावा, मस्लिम सदस्यों का चुनाव पृथक निर्वाचक मण्डल द्वारा किया जाता था, अर्थात् उन्हें चुनने वाले सिर्फ मुसलमान ही थे। केवल मस्लिम मतदाताओं के नामों के पृथक रजिस्टर तैयार किए गए। मसलमानों को विशेष महत्व दिया गया अर्थात् उन्हें उनकी जनसंख्या की तुलना में अधिक स्थान प्रदान किए गये। उन्हें सामान्य स्थानों के लिए भी अन्य समुदायों के समान ही चनाव मे खडे होने का अधिकार प्रदान किया गया। सन् 1909 में केन्द्रीय विधान परिषद् के चुनाव मे मुसलमान चार असुरक्षित सामान्य स्थानों पर विजयी हुए थे और इस तरह कुल 30 गैर सरकारी स्थानों (दो स्थान जो कि चेम्बर्स ऑफ कॉमर्स के लिए निश्चित थे और जिन्हें गैर भारतीयों द्वारा भरा जाना था, उन्हें इसमें शामिल नहीं किया गया है) में से 11 स्थानों पर मुसलमानो का अधिकार था। हालांकि यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि अधिकारीगण और मस्लिम नेतागण हमेशा पूरे मुस्लिम समदाय के परिप्रेक्ष्य में ही बात करते थे परन्तु व्यवहार में केवल कुछ विशिष्ट गण्यमान वर्ग जैसे ज़मींदार सरकारी, अधिकारीगण आदि को ही वरीयता दी गई। सरकार द्वारा मुसलमानों को तरजीह देने का उद्देश्य भारतीय समाज में संतलन बनाए रखना नहीं था बल्कि कुछ मुसलमान नेताओं को एहसान रूपी रेशमी धागे से बाँधे रखना था।

कुल मिलाकर चुनाव अधिनियम इतने उदार अवश्य थे कि उस समय संवैधानिक आन्दोलन की प्रणाली में विश्वास रखने वाले देश के प्रमुख नेतागण विधान परिषदों में प्रविष्ट हो सके। केंद्रीय विधान परिषद् के सदस्यों में नवाब सैयद मोहम्मद बहादुर, श्री निवास शास्त्री, गोपालकृष्ण गोखले, दिनशा वाचा, भूपेन्द्रनाथ बसु, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, मदन मोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, मोहम्मद अली जिन्ना, महमूदाबाद के राजा और मज़हर-उल-मुल्क सम्मिलित थे।

17.4.3 कार्यों में परिवर्तन

इस ऐक्ट ने काउंसिलों की वैधानिक शक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं किया। इसने केवल उनके कार्यक्षेत्र का विस्तार किया। विधान परिषदों के सदस्यों को निश्चित सीमाओं के अंतर्गत सार्वजनिक हित के विषयों पर प्रस्ताव पारित करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया। ये प्रस्ताव संस्तुतियों के रूप में प्रस्तुत होने थे और यह सरकार की इच्छा पर था कि वह उन्हें अपनाए, या नहीं अपनाए। वित्त सचिव द्वारा बजट पर बहस करने के लिए विस्तृत नियमावली बनाई गई। बजट को अंतिम रूप में प्रस्तुत करने से पूर्व इस बात का अवसर प्रदान किया गया कि उस पर बहस हो और संस्तुतियाँ प्रस्तुत की जायें। प्रश्न करने के अधिकार को विस्तृत किया गया और जिस सदस्य ने मूल प्रश्न पूछा हो उसे पूरक प्रश्न करने का अधिकार भी दे दिया गया।

उपरोक्त विचार विमर्श से यह स्पष्ट है कि सरकार ने दो उद्देश्यों को लेकर तथाकथित संवैधानिक सुधार किए थे:

i) नरमदल को साम्राज्य का समर्थक बनाकर राज को सुदृढ़ करना।
ii) राजनैतिक रूप से सक्रिय हिंदू और मुसलमानों में मतभेदों को प्रोत्साहित करना दूसरे शब्दों में यह प्रयास किया गया कि फूट डालकर शासन करने की नीति के मार्ग में यह मील का पत्थर सिद्ध हो सके।

यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि भारत सरकार इन दोनों उद्देश्यों तक पहुँचने में सफल नही हो सकी। प्रारंभ में नरमदल के नेता संतुष्ट थे और उन्होंने खुद को उत्साहपूर्वक काम में लगाया। इससे पूर्व वे सन् 1907 में, सूरत में, कांग्रेस पर कब्ज़ा, कर चुके थे. फिर भी वास्तविकता यह थी कि कांग्रेस के भीतर उनकी भूमिका निश्चयात्मक रूप से कम महत्वपूर्ण होती जा रही थी। कांग्रेस की कार्यवाहियाँ फीकी पड़ती जा रही थीं। नरमदल और गरमदल के बीच सन् 1916 में हुए समझौते के बाद नरमदल, स्वतन्त्रता आंदोलन से दूर हटता चला गया और उसकी इसमें मुख्य भूमिका क्षीण होती चली गई।

सरकार राजनैतिक रूप से सक्रिय हिन्दू और मुसलमानों में दूरी बढ़ाने में भी सफल नहीं हुई हालाँकि इस विषय में विभिन्न इतिहासकारों के विचार भिन्न-भिन्न हैं। मुसलमानों को महत्ता प्रदान किए जाने और पृथक निर्वाचक मंडल दिए जाने के सिद्धान्त को लागू किए जाने का जो अविलम्ब परिणाम था उसने सरकार की आशाओ पर पानी फेर दिया। एक ऐसी संस्था में जहाँ विभिन्न वर्गों को ज़रूरत से ज्यादा सावधानी से छाँट कर एक दूसरे के प्रति संतुलन के रूप में कार्य करने के उद्देश्य से रखा गया हो, यह स्वाभाविक था कि कुछ सदस्य सरकार का समर्थन करते। परन्तु सदस्यों द्वारा सदन में किए गए व्यवहार से यह प्रदर्शित हुआ कि शायद ही किसी मामले में उन्होंने ऐक्ट के निर्माताओं के उद्देश्यों के अनुरूप कार्य किया हो। उन्होंने साथ-साथ मिलकर वोट देने की प्रवृत्ति दिखाई, खासकर ऐसे विषयों में वे एकमत रहे जिनपर कुछ समय से देश में व्यापक रूप से बहस चल रही थी। यह बात भारत के लिए आर्थिक स्वायत्तता, रेलवे पर राज्य का नियंत्रण, कपास पर आबकारी कर की समाप्ति, बंधुआ मज़दूरी के रूप में उत्प्रवास का उन्मूलन तथा शिक्षा पर अधिक व्यय के मामलों में दिखाई दी। वास्तव में इन मामलों पर बहस ने जनता और एक विदेशी सरकार के आपसी हितों के टकराव को उजागर किया। यह बात सही है कि सरकार ने इन प्रस्तावों को केंद्र में सरकारी सदस्यों के बहुमत के बल पर और प्रांतों में सरकारी सदस्यो और नामजद गैर सरकारी सदस्यों के समर्थन के सहारे, नामंजूर कर दिया। लेकिन विधान सभाओं में हुई इन बहसों ने महत्वपूर्ण कार्य किया। बिलों और प्रस्तावों पर की गई बहस में सदस्यों ने अकाट्य तर्क प्रस्तुत किए जिन्होंने अक्सर सरकारी सदस्यों को परेशानी में डाल दिया। प्रेस

के द्वारा इन तर्कों को देश के कोने-कोने में पहुँचाया गया। इस प्रकार इन बहसों ने अंग्रेज़ी राज की नैतिक आधारशिला को कमज़ोर किया।

हालांकि मुसलमानों को महत्त्व और पृथक निर्वाचक मंडल प्रदान किए जाने का निर्णय, आगे चलकर साम्राज्यवादी रणनीति की एक बेहतर चाल साबित हुई। एक बार जब धर्म को राजनीति में शामिल कर लिया गया तो धार्मिक हितों के आधार पर राजनैतिक कार्यक्रमों को स्वतः मान्यता मिल गई और लोगों की धार्मिक भावनाओं को उभार कर चुनाव जीतना और अपनी राजनैतिक महत्ता बनाए रखना एक आम बात हो गई।

बोध प्रश्न 2

1 1909 के तथाकथित संवैधानिक सुधारों को लागू करने के सरकार के दो उद्देश्य क्या थे?

....

....

....

....

....

....

2 मोर्ले-मिन्टो सुधार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियों की विवेचना करें। लगभग पाँच पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

....

....

....

....

....

3 मोर्ले-मिन्टो सुधार की मुख्य विशेषताएँ क्या थीं? लगभग 10 पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

17.5 मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार

1916 तक भारत और ब्रिटेन के लगभग सारे महत्वपूर्ण राजनैतिक दल यह सोचने लगे थे कि सरकार की संरचना में कुछ परिवर्तन आवश्यक है। इस समय तक भारतीयों की

आकांक्षाएं भी बढ़ चुकी थीं। विश्व युद्ध के दौरान भारत में राजनैतिक दबाव के कारण तथा भारतीय सहयोग को जीतने की इच्छा के परिणामस्वरूप, ब्रिटिश सरकार ने भारत में मोंटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार की शुरुआत की।

17.5.1 मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार की ओर ले जाने वाली परिस्थितियाँ

मोर्ले और मिन्टो शायद ही यह कल्पना कर सकते थे कि जिन संवैधानिक सुधारों को, उन्होंने विभिन्न स्तरों पर साढ़े तीन साल के श्रमसाध्य विचार विमर्श के उपरान्त साकार रूप दिया था, वे सात वर्ष के उपरान्त ही किसी को भी संतुष्ट करने में असफल सिद्ध होंगे। सन् 1916 तक भारत के सभी राजनैतिक दलों ने, यहाँ तक कि ब्रिटेन के भी सभी राजनैतिक दलों ने यह महसूस कर लिया कि भारत सरकार की संरचना में कुछ परिवर्तन आवश्यक है। यह मुख्यतः, अगस्त 1914 में विश्व युद्ध छिड़ने से उत्पन्न परिस्थितियों का परिणाम था। युद्ध से भारत की सुरक्षा पर तत्काल कोई संकट नहीं आया था। चूँकि भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक अंग था इसलिए स्वतः भारत को भी इसमें शामिल कर लिया गया था। इसके पश्चात् भारत ने युद्ध में अंग्रेजों की ओर से जन, धन तथा रसद के रूप में हर संभव योगदान दिया। चूँकि भारत ने ऐसे संकट के समय में ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता की थी, इसलिए भारतीयों की अपेक्षाएँ बढ़ चली थीं। ऐसा नहीं था कि वे अपने शासक को सेवाएँ प्रदान करने का इनाम चाहते थे। वास्तव में यूरोपीय सैनिकों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर लड़ने से भारतीयों में एक नया आत्मविश्वास उपजा था। वे चाहते थे कि अपना शासन उन्हें खुद चलाने का अवसर देकर उनकी योग्यता को मान्यता प्रदान की जाये। इन आकांक्षाओं को विश्व युद्ध के दौरान विकसित आदर्शों ने नया बल प्रदान किया। अमरीका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने कहा था कि यह युद्ध विश्व में लोकतंत्र की रक्षा के लिए लड़ा जा रहा था। एक आशा बंधी कि, इस कथन का यह आशय अवश्य होगा कि, भारत स्वशासन के मार्ग की ओर अग्रसर होगा।

बढ़ती हुई आकांक्षाओं की इस पृष्ठभूमि में संवैधानिक सुधारों की अनेक योजनाएँ सुझाई गई। स्वयं भारतीयों ने अनेक योजनाएँ पेश कीं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण योजना वह थी जो लखनऊ में सन् 1916 के कांग्रेस-मुस्लिम लीग के संयुक्त अधिवेशन में प्रस्तुत की गई थी। इसके महत्व को जानने के लिए यह जरूरी है कि हम कुछ पीछे जायें। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कि मोर्ले-मिन्टो सुधारों के बाद मुसलमान सरकार के समर्थक नहीं बने, बल्कि वास्तविकता यह थी कि शासक वर्ग और प्रजा के बीच की खाई और भी गहरी हो गई थी। इसके लिए कई बातें ज़िम्मेदार थीं। सन् 1911 में बंगाल विभाजन रद्द कर दिया गया था। इससे मुसलमानों का सम्भ्रांत राजनैतिक दल नाराज़ हो गया था। सन् 1912 में लार्ड हार्डिंग की सरकार ने अलीगढ़ में विश्वविद्यालय की स्थापना के प्रस्ताव को नामंज़ूर कर दिया था। सन् 1913 में कानपुर में उस समय दंगा हो गया जब मस्जिद से लगे हुए एक चबूतरे को तोड़ा गया। भारत से बाहर, ब्रिटेन ने इटली और बालकन युद्धों में तुर्की की सहायता करने से इंकार कर दिया था। धीरे-धीरे मुहम्मद अली, शौकत अली, हसरत मोहानी और फज़लुलहक जैसे प्रगतिशील और उदार व्यक्तियों के नेतृत्व में, मुस्लिम लीग ने, भारतीय परिस्थितियों के अनुरूप, अपना लक्ष्य–"भारत के लिए स्वशासन" मान लिया। मुसलमान विश्व युद्ध की परिस्थितियों के कारण उत्पन्न आकांक्षाओं से अछूते नहीं रह सकते थे। मुस्लिम लीग ने भारत की भावी सरकार की योजना बनाने के लिए कांग्रेस से गठबंधन किया। इसी समय श्रीमती एनी बेसेंट ने, जो कि अब तक सिर्फ़ धार्मिक क्षेत्र तक अपना कार्यक्रम सीमित किए हुए थीं, होमरूल लीग या होमरूल आंदोलन प्रारंभ किया। तिलक सन् 1914 में जेल से छूटे थे। उन्होंने पूना में एक अन्य होमरूल लीग की स्थापना की। युद्ध के बाद इन दोनों लीगों ने बड़े उत्साह से भारत के लिए होमरूल या स्वशासन प्रदान किए जाने की माँग का गोष्ठियों, देश में भ्रमण करके दिए गए भाषणों, तथा बड़े पैमाने पर ज्ञापनों की बिक्री कर प्रचार किया। इन दोनों लीगों की गतिविधियों ने सरकारी खेमे में हलचल मचा दी। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि गवर्नर जनरल चेम्सफ़ोर्ड ने भारत सचिव से सरकारी नीति के विषय में एक आम वक्तव्य प्रसारित करने की माँग की। उसने होमरूल आंदोलन का उल्लेख किया और साथ ही साथ रूस में ज़ार के शासन का तख्ता पलट दिए जाने का भारतीय राजनीति पर पड़ने वाले असर का भी ज़िक्र किया। इसी बीच, लखनऊ में नरमदल, गरमदल, होमरूल आंदोलनकारी और मुस्लिम लीग एक जुट हुए और उन्होंने

सर्वसम्मति से एक समझौता किया जिसे लखनऊ समझौते (दिसम्बर 1916) के रूप में जाना जाता है। उन्होंने एक साथ मिलकर संवैधानिक सुधारों की एक योजना भी तैयार की। अंग्रेज़ों में एक प्रभावशाली दल ने जो कि अपने को "राउण्ड टेबिल" कहता था (इस वर्ग का यह दृष्टिकोण था कि सभी विवादों को मिल बैठकर हल किया जाना चाहिए), सरकार की संरचना के मुद्दे को उठाया। इसके सदस्यों (लियोनेल कर्टिस, विलियम ड्यूक आदि) ने यह अनुभव किया कि बिना कोई प्रशासनिक उत्तरदायित्व प्रदान किए हुए, विधान परिषदों में चुने हुए प्रतिनिधियों का बहुमत स्थापित करने से निरंतर विरोध की स्थिति उत्पन्न होगी। इसलिए उन्होंने प्रांतों में द्वैध शासन (Dyarchy) स्थापित किए जाने का प्रस्ताव रखा। "डाइआर्की" शब्द ग्रीक मूल का है और इसका शाब्दिक अर्थ है—एक ऐसी सरकार जिसमें सर्वोच्च शक्ति संयुक्त रूप से, दो व्यक्तियों, या दो राज्यों या दो संस्थाओं को प्रदान की गई हो।

इस पृष्ठभूमि में जब कि भारत सरकार से युद्ध कोश में दस लाख पौंड का योगदान माँगा गया, तो यह अनुभव किया गया कि जनमत को संतुष्ट करने के लिए कुछ कदम उठाने पड़ेंगे। सरकार को अपने खर्चे के लिए भी अतिरिक्त राजस्व की नितांत आवश्यकता थी। अंततः इसे आयात पर तटकर लगाने की अनुमति मिल गई। सूती कपड़े पर साढ़े सात प्रतिशत आयात कर लगा दिया गया जबकि आबकारी कर को साढ़े तीन प्रतिशत पर बरकरार रखा गया। इस कर को मुख्य रूप से आर्थिक कारणों से लगाया गया था। लेकिन इसने भारतीय कपड़ा उद्योग को कुछ संरक्षण प्रदान किया और इस तरह एक सीमा तक, भारतीय नेताओं की दीर्घकाल से की जाती रही माँग को स्वीकार कर लिया गया। यह भी निर्णय लिया गया कि ब्रिटिश सरकार को भारत में अपने संभावित लक्ष्य के विषय में भी एक वक्तव्य जारी करना चाहिए।

यह अनुभव किया गया कि थोड़ा-थोड़ा देने की या अनुमानित विकास संबंधी योजनाएँ अब भारतीयों को स्वीकार्य नहीं हैं। केवल अपने लक्ष्य की घोषणा करने में पहल करके ही अंग्रेज़ स्थिति पर नियंत्रण पा सकते हैं।

भारतीयों को अधिक राजनैतिक शक्ति और उत्तरदायित्व प्रदान किए जाने की नीति मुख्य रूप से भारत में राजनैतिक दबाव के कारण अपनाई गई थी। यह भारतीयों का समर्थन प्राप्त करने की एक युक्ति थी। इन्हीं परिस्थितियों में 20 अगस्त, 1917 को लॉर्ड मोन्टेग्यू ने जो कि भारत के सचिव थे, ब्रिटिश संसद में निम्न वक्तव्य दिया:

> "महामहिम की सरकार की यह नीति है कि····प्रशासन की हर शाखा में भारतीयों का संयोजन बढ़ता जाये और स्वायत शासित संस्थाओं का इस बात को ध्यान में रखकर विकास किया जाये कि ब्रिटिश साम्राज्य के अविभाज्य अंग के रूप में भारत में उत्तरदायी शासन की स्थापना करना सरकार का लक्ष्य है।"

इस घोषणा में यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए जो प्रगति होगी वह क्रमिक चरणों में होगी और इस दिशा में प्रभावशाली कदम तुरंत उठाए जाएँगे। इस विषय में कब और कितनी प्रगति होगी, इसका निर्णय ब्रिटिश संसद द्वारा लिया जाएगा। इस प्रकार के मामलों में संसद का निर्णय भारतीयों द्वारा कार्यकुशलता के प्रदर्शन के आधार पर संचालित होना था। मोंटेग्यू ने स्वयं भारत आने और संवैधानिक परिवर्तन की एक योजना तैयार करने का निश्चय किया। नवंबर 1917 में, लॉर्ड मोन्टेग्यू भारत आए और उन्होंने वाइसरॉय लॉर्ड चेम्सफ़ोर्ड, केंद्रीय तथा प्रांतीय सरकारों के अधिकारियों तथा भारतीय नेताओं के साथ विचार विमर्श किया। इन विचार विमर्शों के आधार पर भारतीय संवैधानिक सुधारों पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की गई जिसे मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट या सिर्फ़ मोन्टफ़ोर्ड रिपोर्ट (जुलाई 1918) कहा गया। कुल मिलाकर अगस्त 1917 की घोषणा का भारत में स्वागत ही हुआ। लेकिन जो योजना इस रिपोर्ट में पेश की गई उसे नरमदल के कुछ नेताओं को छोड़कर, शेष भारतीय नेताओं ने अपनी आशाओं से बहुत कम पाया। श्रीमती एनी बेसेंट ने इस प्रावधान को कि सत्ता हस्तांतरण धीरे-धीरे किया जाये, अंग्रेज़ों द्वारा दिए जाने के, और भारतीयों द्वारा स्वीकार किए जाने के, सर्वथा अयोग्य मानकर अस्वीकृत कर दिया।

बबंई में अगस्त 1918 में इस रिपोर्ट पर विचार करने के लिए कांग्रेस का विशेष अधिवेशन बुलाया गया। इस अधिवेशन में इस योजना को अपर्याप्त, असंतोषजनक, और निराशापूर्ण बताते हुए इसकी भर्त्सना का एक प्रस्ताव पारित किया गया।

दूसरी ओर नरमदल के नेता यह मान चुके थे कि यह प्रस्ताव विद्यमान परिस्थितियों की तुलना में काफी हद तक प्रगतिशील है और इसमें निहित सदविचारों का सम्मान करना चाहिए। मोंटेग्यू जो कि इस काल में अपनी योजना के लिए समर्थकों की तलाश में थे, ने अपनी डायरी में लिखा:

"सरकार की हर संभव मदद से, हमारे प्रस्तावों के प्रचार हेतु, भारतीयों का एक नया संगठन बनाया जाएगा और हमारी मदद करने के लिए शिष्ट मंडल इंग्लैंड भेजा जाएगा।" नरमदल ने बंबई के कांग्रेस अधिवेशन में भाग नहीं लिया और नवंबर, 1918 में बंबई में ही वे ऑल इंडिया कान्फ्रेंस में सम्मिलित हुए। अपने अध्यक्षीय भाषण में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने अपने दल की इस प्रकार व्याख्या की – "सुधारों का मित्र और क्रांति का शत्रु।" मई, 1919 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने संयुक्त संसदीय समिति (ज्वाइंट पार्लियामेंटरी कमेटी) के समक्ष गवाही देने के लिए इंग्लैंड भेजे गए भारतीय शिष्ट मंडल का नेतृत्व किया। मोन्टफोर्ड रिपोर्ट के आधार पर ही गवर्नमेंट ऑफ इंडिया बिल तैयार किया गया और फिर उसे ब्रिटिश संसद में पेश किया गया। यह दिसम्बर, 1919 में ऐक्ट बन गया। इस ऐक्ट की प्रस्तावना अगस्त, 1917 की घोषणा पर आधारित थी।

17.5.2 केंद्रीय सरकार में परिवर्तन

मुख्य प्रशासनिक सत्ता गवर्नर जनरल के ही पास रही जो कि भारत सचिव के माध्यम से (न कि भारतीय विधान परिषद् के माध्यम से) ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी था। गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी का गठन किंचित परिवर्तन के साथ किया गया जबकि भारतीय विधान सभा के संगठन में काफी परिवर्तन किए गए। लेकिन यह स्पष्ट कर दिया गया कि इसका लक्ष्य, सदन की शक्ति में वृद्धि करना नहीं है बल्कि इसे और अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाना और सरकार पर प्रभाव डालने के और अवसर प्रदान करना है।

प्रशासन की हर शाखा में भारतीयों के बढ़ते हुए संयोजन की नीति को कार्यान्वित करने के लिए, यह व्यवस्था की गई कि गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद् के कुल छह सदस्यों में से तीन भारतीय होंगे। हालाँकि यह उल्लेखनीय है कि इन सदस्यों को अपेक्षाकृत कम महत्वपूर्ण विभाग यथा कानून, शिक्षा, श्रम, स्वास्थ्य या उद्योग दिए गए। वे गवर्नर जनरल के प्रति जवाबदेह थे और उसके माध्यम से भारत सचिव को, न कि भारतीय विधान सभा (या परिषद्) को।

ऐक्ट ने केंद्र में द्विसदनीय विधान सभा की व्यवस्था की। ये दो सदन थे काउंसिल ऑफ स्टेट तथा लेजिसलेटिव एसेम्बली। काउंसिल ऑफ स्टेट में कुल 60 सदस्य थे जिनमें से कम-से-कम 33 निर्वाचित सदस्य होने थे। मनोनीत सदस्यों में से अधिक से अधिक 20 सरकारी हो सकते थे। लेजिसलेटिव एसेम्बली के कुल 145 सदस्यों में से 104 निर्वाचित सदस्य होने थे, 30 का चुनाव मुसलमानों में से, 2 का चुनाव सिक्खों में से, 7 का चुनाव ज़मींदारों में से, 9 का यूरोपियों में से तथा 4 का इंडियन कॉमर्शियल कम्युनिटी, अर्थात् भारतीय व्यापारिक संघ में से होना था। सांप्रदायिक निर्वाचक मंडल में सिक्खों को भी शामिल कर लिया गया था। यह उल्लेखनीय है कि प्रान्तों में इन स्थानों का वितरण उनकी जनसंख्या के आधार पर नहीं बल्कि उनके तथाकथित महत्व पर आधारित था। सदन का कार्यकाल तीन वर्ष का था परन्तु इसे गवर्नर जनरल द्वारा बढ़ाया जा सकता था।

विधान सभा की शक्तियाँ और कार्य करीब-करीब पहले की तरह ही रहे। केवल एक महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि प्रांतीय तालिका में उल्लिखित विषयों पर किसी विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति आवश्यक कर दी गई। गवर्नर ज़नरल की शक्ति का विस्तार किया गया। किसी भी विधेयक पर निषेधाधिकार का प्रयोग करने के अतिरिक्त गवर्नर जनरल को प्रमाणित करने की शक्ति (पॉवर ऑफ सर्टीफिकेशन) भी थी, अर्थात् वह किसी भी ऐसे विधेयक को कानून बना सकता था जो उसकी दृष्टि में आवश्यक था, भले ही उसे सदन ने नामंजूर कर दिया हो। वह ऐसा यह प्रमाणित करके कर सकता था कि यह विधेयक ब्रिटिश भारत की या उसके किसी भाग की सुरक्षा, शांति या हितों के लिए अत्यावश्यक है। सवाल पूछने के कार्यक्षेत्र को बढ़ाया गया और सभी सदस्यों को पूरक प्रश्न करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

मोंटफोर्ड योजना के अंतर्गत प्रांतों में आंशिक रूप से उत्तरदायी सरकार बनाई गई। इसके कारण केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के कार्यक्षेत्रों का सीमा निर्धारण आवश्यक हो गया। इसलिए दो तालिकाएँ तैयार की गईं। यह विभाजन इस आधार पर किया गया कि जो विषय पूरे भारत से सम्बद्ध हैं या एक से अधिक प्रान्त से सम्बद्ध हैं उन्हें केंद्रीय तालिका में रखा जाना चाहिए जबकि उन विषयों को जोकि केवल प्रान्तों से सम्बद्ध हैं उन्हें प्रांतीय तालिका में रखा जाना चाहिए।

केंद्रीय विषयों में विदेश तथा राजनैतिक सम्बन्ध, सार्वजनिक ऋण, तटकर, सीमाशुल्क, राजकीय एकाधिकार पत्र, मुद्रा, संचार आदि सम्मिलित थे। प्रांतीय तालिका में स्थानीय स्वायत्त संस्थाएँ, स्वास्थ्य, सफ़ाई, शिक्षा, सार्वजनिक कार्य, कृषि, वन, कानून, शांति व्यवस्था आदि विषय थे। शेष शक्तियाँ गवर्नर जनरल-इन काउंसिल में सन्निहित थीं।

यह अनुभव किया गया कि भारतीयों को आंशिक उत्तरदायित्व दिया जाना भी तभी सार्थक हो सकता है जबकि प्रांतीय विकास के लिए प्रांत भारत सरकार पर आश्रित न हों। इसलिए इस ऐक्ट में केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के लिए पृथक-पृथक राजस्व स्रोतों की व्यवस्था की गई।

17.5.3 प्रांतीय सरकारों में परिवर्तन

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट 1919 के अंतर्गत प्रांतों में सरकार के कुछ कार्य भारतीयों को हस्तांतरित किए गए जबकि शेष ब्रिटिश नियंत्रण में सुरक्षित रखे गए। इस विभाजन के अधीन विषयों को दो समान भागों – "सुरक्षित" तथा "हस्तांतरित" में विभाजित किया गया। इसी के अनुरूप प्रांतीय सरकार भी दो समान भागों को मिलाकर गठित की गई थी। गवर्नर तथा उसकी कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों को सुरक्षित विषयों का प्रशासन करना था। हस्तांतरित विषयों को गवर्नर को मंत्रियों के साथ मिलकर प्रशासित करना था। प्रान्तों में प्रशासनिक शक्तियों का यह अभिनव वितरण द्वैध शासन के रूप में जाना गया। सरकार के दो पक्षों में एक दूसरे से संगठन के विषय में गवर्नर तथा विधान परिषद् के साथ उनके संवैधानिक सम्बन्धों के विषय में स्पष्ट रूप से अन्तर कर दिया गया।

मोटे तौर पर कहा जाये तो चार विषय, अर्थात् स्थानीय स्वायत्त शासन, स्वास्थ्य, शिक्षा तथा कृषि से संबन्धित कुछ विषय हस्तांतरित विषयों में शामिल किए गए। शेष सभी विषय सुरक्षित विषय थे। इनमें पुलिस, न्याय, छापेखानों पर नियंत्रण, सिंचाई, भू-राजस्व, कारखाने आदि विषय सम्मिलित थे।

गवर्नर और कार्यकारिणी के सदस्य ब्रिटिश सरकार द्वारा नियुक्त किए जाते थे, और वे गवर्नर जनरल तथा भारत सचिव के प्रति संयुक्त रूप से उत्तरदायी होते थे। कार्यकारिणी पार्षदों की संख्या 4 से अधिक नहीं होती थी। मंत्रीगण जिनको कि हस्तांतरित विषय सौंपे गये थे, गवर्नर द्वारा नियुक्त किए गए। गवर्नर आमतौर पर मंत्रियों को विधान सभा के प्रमुख निर्वाचित सदस्यों में से ही चुनते थे। व्यवहार में, प्रत्येक प्रान्त में दो या तीन मंत्री होते थे। नियमानुसार मंत्रीगणों का कार्यकाल गवर्नर की इच्छा पर निर्भर था लेकिन व्यवहार में वे अपने पद पर तब तक बने रहते थे जब तक उन्हें विधान सभा का विश्वास प्राप्त रहता था। प्रांतीय गवर्नरों तथा मंत्रियों के मध्य सम्बन्ध का आधार निर्देशन लेखपत्र था जो कि गवर्नरों को जारी किया गया था और जिसमें कहा गया था: "किसी मंत्री की राय पर विचार करते समय और उसकी राय से असहमत होने के औचित्य और अनौचित्य पर विचार करते समय आपको उस मंत्री और विधान सभा से उसके सम्बन्धों तथा जनमत का (जो कि विधान सभा में लोगों द्वारा चुने गए प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्त है) ध्यान रखना पड़ेगा।"

इस निर्देशन लेखपत्र में गवर्नर के विशिष्ट उत्तरदायित्व की व्याख्या भी की गई थी जिसमें उसे मंत्रियों द्वारा लिए गए निर्णयों को अस्वीकार करने की विस्तृत शक्ति दी गई थी। यह विचार कि मंत्रीगण अपने कार्यों के लिए संयुक्त रूप से उत्तरदायी हों, उस समय बहस का विषय तो बना परन्तु अंततः इस सिद्धान्त का पालन करना अनिवार्य नहीं बनाया गया।

गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट मूलतः आठ प्रान्तों, मद्रास, बंबई, बंगाल, संयुक्त प्रांत, पंजाब बिहार और उड़ीसा, मध्यप्रान्त और आसाम में लागू किया गया। सन् 1923 में इसकी

व्यवस्थाओं का विस्तार बर्मा और कुछ समय बाद उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत तक भी कर दिया गया।

इन सभी प्रान्तों में एक सदनी विधान सभा का, जिसे लेजिसलेटिव काउंसिल कहा जाता था, निर्माण किया गया। इसमें गवर्नर की कार्यकारिणी, निर्वाचित सदस्य और मनोनीत सदस्य होते थे। यह भी व्यवस्था की गई कि काउंसिल के कम-से-कम 70 प्रतिशत सदस्य निर्वाचित हों और सरकारी सदस्य अधिक-से-अधिक 20 प्रतिशत। इन विधान सभाओं का आकार काफ़ी बढ़ा दिया गया और यह एक प्रांत से दूसरे प्रान्त में भिन्न-भिन्न था। अधिकतम सदस्य, बंगाल में कुल 140 थे तथा न्यूनतम, आसाम में कुल 53 थे।

निर्वाचित सदस्यों को सीधे चुनाव द्वारा चुना जाता था, अर्थात् प्राथमिक मतदाता ही सदस्यों को चुनते थे। मताधिकार मुख्य रूप से सम्पत्ति विषयक योग्यता पर आधारित था। सन् 1920 में कुल 24 करोड़ 17 लाख जनसंख्या में से केवल 53 लाख लोगों को अर्थात् 5 प्रतिशत (वयस्कों) से भी कम लोगों को मताधिकार मिला। महिलाओं को मताधिकार या चुनाव में खड़े होने का अधिकार प्रदान नहीं किया गया। मै यहाँ आपका ध्यान इस तथ्य की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ कि ब्रिटेन में भी 1918 में महिलाओं को मताधिकार दिया गया था।

पृथक निर्वाचक मंडल के सवाल की जाँच करके मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड रिपोर्ट के समीक्षकों ने यह निष्कर्ष निकाला कि वे आत्मशासन या स्वशासन सिद्धान्त के विकास में गम्भीर बाधा हैं। उन्होंने इन निर्वाचक मंडलों को इतिहास से मिलने वाली शिक्षा के विरुद्ध बताया और यह भी कहा कि इनसे वर्ग विभाजन चिरस्थायी हो जाता है तथा विद्यमान सम्बन्धों में जड़ता आ जाती है। फिर भी उन्होंने इस पृथक निर्वाचक मंडल के उन्मूलन की संस्तुति नहीं की और उन्होंने इसे पंजाब में सिक्खों के लिए भी लागू कर दिया। बाद में जस्टिस पार्टी की गैर ब्राह्मणों के लिए स्थानों के आरक्षण की माँग को भी स्वीकार कर लिया गया। भारतीय ईसाइयों, एंग्लों इंडियनों और यूरोपीयों को भी पृथक निर्वाचक मंडल प्रदान कर दिया गया।

17.5.4 मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार पर विचार

द्वैध शासन की संपूर्ण धारणा एक गलत सिद्धांत पर आधारित थी। किसी राज्य या सरकार के कार्यों को दो सर्वथा पृथक (एक दूसरे से पूर्ण स्वतंत्र) खंडों में विभाजित कर पाना बहुत कठिन है। इस तर्कहीन विभाजन से समस्या और भी जटिल हो गई। जबकि कृषि हस्तांतरित विषय था, भू-राजस्व और सिंचाई सुरक्षित विषय थे। सी.वी. चिंतामणि ने जो संयुक्त प्रांत में एक मंत्री थे, एक दिलचस्प मामले का हवाला दिया है। सन् 1921 में कृषि विभाग में कृषि भूमि के विखण्डन के प्रश्न पर जाँच पड़ताल शुरू हुई। जब सन् 1922 में रिपोर्ट पेश की गई तो यह अनुभव किया गया कि इस प्रश्न को राजस्व विभाग को देखना चाहिए था अत: गवर्नर ने इस मामले को इस सुरक्षित विभाग को सौंप दिया। सन् 1924 में फिर यह पाया गया कि इस कार्य का एक अंश सहकारिता विभाग द्वारा किया जाना चाहिए। इसी प्रकार यूरोपीयों और एंग्लों इंडियनों की शिक्षा, शिक्षा मंत्री के अधिकार क्षेत्र से बाहर थी।

इस प्रकार की पद्धति तभी कारगर हो सकती थी जब दोनों ही भागों में परस्पर विश्वास होता। जबकि मंत्रीगण अपने देशवासियों के हितार्थ थे, तो कार्यकारिणी के सदस्य और सामान्यत: सिविल सेवाओं के सदस्य ब्रिटिश साम्राज्यवादी हितों के रक्षार्थ थे। हस्तांतरित विभागों में भी मंत्रियों का सिविल सेवाओं के अधिकारियों पर कोई नियंत्रण नहीं था। विभागों के सचिवों की गवर्नर तक सीधी पहुँच थी जिसकी वजह से मंत्रियों की स्थिति प्रतिकूल हो गई थी। इसके अतिरिक्त मंत्रियों को दो मालिकों को खुश करना पड़ता था। उसकी नियुक्ति गवर्नर के द्वारा की जाती थी जो उन्हें बर्खास्त भी कर सकता था लेकिन वे विधान सभा के प्रति भी जवाबदेह थे। इनमें सबसे प्रमुख बात यह थी कि तथाकथित राष्ट्र निर्माण के विभाग जो कि मंत्रियों को सौंपे गए थे, वे तभी कुछ कारगुजारी दिखा सकते थे जबकि उन्हें धन उपलब्ध हो। मंत्रियों ने यह शिकायत की कि हस्तांतरित विषयों की ज़रूरतों पर विचार-विमर्श किए बिना ही सुरक्षित विभागों को इच्छानुसार धन प्राप्त हो जाता था।

भारत में परिस्थितियाँ, सुधार योजना का स्वागत करने के अनुकूल नहीं थी। सन् 1918-19 में अनावृष्टि और व्यापार में मंदी के फलस्वरूप जनता में असंतोष व्याप्त हुआ। रॉलट विधेयकों में से एक विधेयक मार्च, 1919 में भारतीयों के समवेत विरोध के बावजूद ऐक्ट बन गया। 6 अप्रैल 1919 को गांधी जी ने हड़ताल का आह्वान किया जो बहुत सफल रहा। 3 अप्रैल, 1919 को जलियाँवाला बाग हत्याकांड हुआ जिससे अन्य घटनाओं के साथ मिलकर सरकार और जनता के बीच का सम्बन्ध तनावपूर्ण हो गया। धीरे-धीरे सुधार योजना के प्रति विरोध ने कठोर होकर अस्वीकरण का रूप ले लिया। मुसलमान अंग्रेज़ों के, तुर्की के शासक ख़लीफ़ा के प्रति अंग्रेज़ों के कठोर रवैये से क्षुब्ध थे। उन्होंने महात्मा गांधी के नेतृत्व में खिलाफ़त आन्दोलन प्रारंभ किया। 1 अगस्त 1920 को कांग्रेस ने प्रगतिशील, अहिंसक असहयोग की नीति अपनाने का निश्चय किया। इसी के साथ चुनावों का बहिष्कार भी शुरू हुआ। ये चुनाव नवंबर 1920 में होने थे। काँग्रेस के बहिष्कार से नए संविधान को गहरी क्षति पहुँची।

सन् 1919 में लागू की गई संवैधानिक सुधार की योजना इतनी अलोकप्रिय हुई कि इसकी निंदा करना एक आम बात हो गई। फिर भी भारत में संसदीय लोकतंत्र के विकास में इसका खास महत्व है। यह उल्लेखनीय है कि सन् 1919 में जो परिवर्तन किए गए वे सन् 1916 में सुझाई गई योजनाओं से भी बहुत पिछड़े हुए थे। इसके अलावा सरकार ने संवैधानिक परिवर्तनों के लक्ष्यों की घोषणा कर दी थी इसलिए वादे से फिर जाना नीति विरुद्ध बात थी। दूसरे शब्दों में इस घोषणा ने और अधिक रियायतों को अवश्यंभावी बना दिया था। इस ऐक्ट ने केन्द्र और प्रान्तों में निर्वाचित वैधानिक संस्थाओं का निर्माण किया। इन संस्थाओं द्वारा भारतीयों की राय निरन्तर और स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई। इन बहसों ने राज की पक्षधर आदर्शात्मक दलीलों को और कमज़ोर बना दिया तथा तेज़ी से बढ़ती साम्राज्यवाद विरोधी भावना को और तेज कर दिया। इसी समय चुनावों और संगोष्ठियों के आयोजन से भारतीय संसदीय शब्दावली और संस्थाओं से परिचित हुए और इस प्रकार इनके आयोजन ने भारत में संसदीय लोकतंत्र के सफल कार्यान्वयन में योगदान दिया।

आगामी वर्षों में राष्ट्रीय आन्दोलन का विस्तार हुआ और किसानों, व्यापारियों और औद्योगिक श्रमिकों का एक बड़ा वर्ग इसमें सम्मिलित हुआ। यह आंशिक रूप से युद्धोपरांत आर्थिक संकट का परिणाम था और आंशिक रूप से यह विश्वव्यापी पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध छेड़े जाने वाले आंदोलन का परिणाम था जिसका विकसित राष्ट्रों में पूँजीपति विरोधी तथा उपनिवेशों में साम्राज्यवाद विरोधी स्वरूप था। इसने शिकायतों और आकांक्षाओं का ऐसा समन्वय उत्पन्न किया कि यदि उसे सही दिशा दी जा सकती तो राष्ट्रीय आन्दोलन को एक नया बल मिलता और वह विकास के उच्च शिखर पर पहुँच जाता। खिलाफ़त के प्रश्न और पंजाब में हुए ब्रिटिश दमन चक्र को लेकर जो भावना और क्रोध का ग़ुबार उठा था वह इस अपूर्व समन्वय को और भी प्रखर और गतिशील बना गया। कुछ इतिहासकारों ने सन् 1919 के सुधारों को दोहरी साम्राज्यवादी ज़रूरतों-आर्थिक अवमूल्यन तथा भारतीयों की व्यापक सहभागिता की आवश्यकता, से जोड़ा है। हालांकि, अधिक विवादास्पद वह कारण-कार्य सम्बन्ध है जिसे कुछ इतिहासकारों ने सुधारों और जन-राजनीति के उदय के बीच खोजना चाहा है। यह तर्क दिया जाता है कि सन् 1919 के ऐक्ट ने चूँकि निर्वाचक मंडल को विस्तृत किया था, अतः राजनीतिज्ञ अपेक्षाकृत अधिक लोकतांत्रिक तरीके विकसित करने के लिए बाध्य हुए। हालांकि, सुमित सरकार इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। उनके अनुसार इस दृष्टिकोण से विशिष्ट प्रकार की राजनीति और राजनीतिज्ञों के कार्यों की व्याख्या तो की जा सकती है परन्तु यह युद्धोपरान्त जन जागरण की, जिसकी अभिव्यक्ति चुनावों के बहिष्कार तथा 1919 से 1922 तक हुए साम्राज्यवाद विरोधी जन आंदोलनों में हुई, व्याख्या करने में और उसके आधारभूत तत्वों को बताने में शायद ही सफल होगा।

बोध प्रश्न 3

1 किन बातों ने सरकार को अगस्त, 1917 की घोषणा करने के लिए प्रेरित किया? लगभग पाँच पंक्तियों में लिखिए।

....

....

....

....

....

2 मोंटेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड योजना की आधारभूत विशेषताएँ क्या थीं? लगभग 10 पंक्तियों में अपना उत्तर दीजिए।

....

....

....

....

....

....

....

....

....

....

3 द्वैध शासन की कार्य प्रणाली में कौन-कौन सी कठिनाइयाँ आईं। लगभग पाँच पंक्तियों में अपना उत्तर लिखिए।

....

....

....

....

....

17.6 सारांश

इस इकाई में हमने अंग्रेज़ों द्वारा भारत में सन् 1892 से लेकर सन् 1920 तक के काल में किए गए संवैधानिक परिवर्तनों पर विचार किया है। अंग्रेज़ों ने यह महसूस कर लिया था कि भारत में ब्रिटिश शासन की रक्षा के लिए उन्हें उन भारतीयों की, जो कि अपनी माँगों को संविधान के संकुचित दायरे में ही रखने को तैयार थे, आकांक्षाओं को संतुष्ट करना ज़रूरी हो गया था। इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए सन् 1892 का इंडियन काउंसिल ऐक्ट पारित किया गया जिससे परिषदों का विस्तार हुआ परन्तु उनमें सरकारी बहुमत बनाए रखा गया। चुनाव सिद्धान्त (यद्यपि अप्रत्यक्ष) को लागू किया गया और परिषदों को बजट पर विचार-विमर्श करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

सन् 1895 से 1906 के दौरान अनेक कारणों से ब्रिटिश सरकार के प्रति असंतोष की भावना में वृद्धि हुई। इस पृष्ठभूमि में मोर्ले-मिन्टो सुधार प्रस्तुत किए गए जिसमें अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई और पृथक निर्वाचक मंडल की प्रणाली, जिसमें हिन्दुओं और मुसलमानों को अलग-अलग प्रतिनिधित्व दिया गया, प्रचलित की गई। इसने आगे चलकर अलगाववादी प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया। प्रथम विश्व युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियों ने गवर्नमेंट ऑफ इंडिया ऐक्ट, 1919 की पृष्ठभूमि तैयार की, यह ऐक्ट मोन्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार के रूप में जाना जाता है। इस ऐक्ट में किया जाने वाला सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन द्वैध शासन था जिसके अन्तर्गत प्रान्तीय सरकारों को अपेक्षाकृत अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई थीं लेकिन गवर्नर का वित्तीय संसाधनों पर पूर्ण नियंत्रण बना रहा जबकि मंत्रियों को सार्वजनिक स्वास्थ्य और शिक्षा आदि विभाग सौंपे गए। मंत्रीगण विधान सभा के प्रति उत्तरदायी थे पर वे गवर्नर के प्रति भी जवाबदेह थे तथा गवर्नर को उनकी

नियुक्ति तथा उन्हें अपदस्थ करने का अधिकार था। केंद्रीय सरकार का प्रांतीय सरकारों पर पूर्ण अधिकार था और विधान सभा के सदस्यों को चुनने का अधिकार बहुत कम लोगों को दिया गया था अर्थात् मताधिकार बहुत सीमित था। समय-समय पर होने वाली सुधार नीतियाँ, साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन जो कि भारतीय राजनीति का व्यापक अंग बन चुका था, से निपटने तथा उसके दमन की अभिव्यक्ति मात्र थी।

17.7 शब्दावली

कार्यकारिणी समिति: सरकार का वह अंग जो निर्णयों तथा आदेशों के कार्यान्वयन से सम्बन्धित हो।

विधान सभा: सरकार का वह अवयव जो कानून बनाता हो तथा उन्हें पारित करता हो।

संसदीय लोकतंत्र: एक ऐसी राजनैतिक प्रणाली जिसमें संसद में विद्यमान निर्वाचित प्रतिनिधि विधि निर्माण की सर्वोच्च सत्ता का प्रतिनिधित्व करते हों। ये प्रतिनिधि वृहत् वयस्क मताधिकार द्वारा चुने जाते हैं।

पृथक निर्वाचन क्षेत्र: एक ऐसी प्रणाली जिसमें मतदाता प्रतिनिधित्व के उद्देश्य से संप्रदाय या धर्म के आधार पर विभाजित किए जाएँ।

17.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1 i) ×
   ii) √
   iii) ×

2 आपके उत्तर में निम्न बातें सम्मिलित होनी चाहिए:
प्रशासनिक (संवैधानिक) सुधारों की राष्ट्रवादियों में बढ़ती हुई माँग, संवैधानिक सुधारों आदि द्वारा राष्ट्रवादियों को संतुष्ट करने की सरकार की नीति। देखिए उपभाग 17.3.1.

3 आपके उत्तर में निम्न बातें सम्मिलित होनी चाहिए:
परिषदों का विस्तार किया गया, चुनाव का सिद्धान्त लागू किया गया और परिषदों को बजट पर बहस करने का अधिकार प्रदान कर दिया गया।

बोध प्रश्न 2

1 i) राज को सुदृढ़ करने के लिए नरमदल को साम्राज्य का समर्थक बनाना
   ii) हिंदुओं और मुसलमानों में फूट डालना

2 आपके उत्तर में निम्न बातें शामिल होनी चाहिए:
अंग्रेज़ नरमदल को साम्राज्य का समर्थक बनाना चाहते थे इसलिए वे नरमदल की संवैधानिक सुधारों की माँग को स्वीकार कर लेना चाहते थे। अंग्रेज़ सन् 1909 के सुधार के माध्यम से मुसलमानों को, पृथक निर्वाचक मंडल प्रदान करके अपनी ओर मिलाना चाहते थे। देखिए उपभाग 17.4.1.

3 आपके उत्तर में निम्न बातें आनी चाहिए:
परिषदों में अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सदस्यों की संख्या में वृद्धि हुई और मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की प्रणाली प्रचलित की गई। देखिए उपभाग 17.4.2 तथा 17.4.3.

बोध प्रश्न 3

1 आपके उत्तर में निम्न बातें सम्मिलित होनी चाहिए:
बंगाल विभाजन को रद्द करके अंग्रेज़ों ने मुसलमानों को रुष्ट कर दिया था। लखनऊ

समझौते के बाद हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य सहयोग एवं सद्भाव। इन तथ्यों ने अंग्रेज़ों को चिंतित कर दिया था। अंग्रेज़ युद्ध के प्रयासों में भारतीय सहयोग प्राप्त करने के लिए उसकी कीमत चुकाने को तैयार थे। देखिए उपभाग 17.5.1

2 आपके उत्तर में निम्न बातें सम्मिलित होनी चाहिए:
द्वैध शासन का प्रचलन जिसके अंतर्गत प्रांतीय सरकारों को और अधिक अधिकार प्रदान किए गए परन्तु यह सुचारू रूप से कार्य नहीं कर सका। केन्द्रीय सरकार का प्रान्तीय सरकारों पर असीमित नियंत्रण था। देखिए उपभाग 17.5.2 तथा 17.5.3.

3 आपके उत्तर में निम्न बातें सम्मिलित होनी चाहिए:
द्वैध शासन के अंतर्गत राज्य के कार्यों का एक दूसरे से पूर्ण रूपेण पृथक तथा स्वतंत्र विभागों में विभाजन पूर्णतः अप्रभावकारी सिद्ध हुआ क्योंकि मंत्रियों और कार्यकारिणी परिषद् के सदस्यों में पारस्परिक आस्था नहीं थी और उनके हित प्रायः आपस में टकराते थे। देखिए उपभाग 17.5.4.